

आदिवासियों का ज्ञान उनके जीवन जीने की कला है ।

(स्वभाव से अभिजात्य माने जाने वाले अँग्रेजी जैसे विषय के प्रोफेसर एवं साहित्य अकादमी एवं पद्मश्री आदि पुरस्कारों से पुरस्कृत प्रो. गणेश देवी भारतीय भाषाओं के लोक सर्वेक्षण की योजना पर बिना किसी सरकारी मदद के काम करना शुरू किया था और सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं। प्रस्तुत है उनसे अरिमर्दन कुमार त्रिपाठी से की गई बातचीत के मुख्य अंश)

अरिमर्दन : किसी भाषा और उसके साहित्य में क्या संबंध होता है और वे एक-दूसरे को किस रूप में प्रभावित करते हैं ?

गणेश देवी : किसी भाषा में जितनी अधिक शब्द-संपत्ति होगी, उतना ही अच्छा साहित्य उस भाषा में हो सकता है। भाषाई अंतर्वस्तु का विस्तार, उसके शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग की व्यापकता आदि साहित्य के निर्माण में सहयोगी होती हैं। हर भाषा का प्रत्येक शब्द एक रूपक, एक दर्शन और एक स्मृति होता है, इसलिए भाषा से साहित्य को अलग दिखाने की जो परंपरा है, वह भाषाओं की अपनी परंपरा से बहुत छोटी है। लेकिन जब यह परंपरा स्थापित हो जाती है, तो साहित्य और भाषा को लोग अलग से देखने लगते हैं। लेकिन कभी-कभी बहुत छोटी भाषा में भी समर्थ साहित्य की रचना संभव है, जैसे मराठी के विकास के प्रारंभ में ही ज्ञानेश्वरी की रचना हुई थी, इसलिए ज्ञानेश्वरी से ही मराठी का विकास हुआ, ऐसा कहना भी गलत नहीं होगा। यही स्थिति हिंदी और तुलसीदास आदि के संबंध में भी कहा जा सकता है। एक नई भाषा पुरानी भाषाओं से बनती है और भाषा के इतिहास में जब कोई समर्थ साहित्य आता है, तो वहाँ से भाषाओं का आरंभ माना जाता है और फिर उसके पहले कुछ थोड़ा-बहुत इतिहास ढूंढा जाता है। भाषाओं का इतिहास बाद में तैयार होता है और उसका प्रस्तुतीकरण साहित्यिक कृतियों को ध्यान में रखकर किया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो किसी भी भाषा का इतिहास मनुष्य जाति के इतिहास जितना ही लंबा होता। इस प्रकार भाषा की विशालता ही साहित्य की विशालता का आधार तैयार करता है, यदि भाषा का उपयोग ही संकुचित हो गया है, तो उसमें साहित्यिक कृतियों के आने की संभावना कम हो जाती है।

अरिमर्दन : यहाँ रोमन याकोब्सन के उस वक्तव्य पर आपकी क्या टिप्पणी होगी , जिसमें वे कहते हैं कि भाषाविज्ञान एवं साहित्य में सेतु का कार्य शैलीविज्ञान करता है?

गणेश देवी : अँग्रेजी में एक मत काफी प्रचलित है, जिसका तात्पर्य यह है कि ‘जहाँ शैलीविज्ञान शुरू होता है, भाषाविज्ञान वहीं समाप्त हो जाता है’ इस प्रकार कहा जा सकता है कि शैलीविज्ञान का विकास भाषाविज्ञान के ही आधार पर हुआ है, लेकिन शैलीविज्ञान का पूरा विषयवस्तु साहित्य था, भाषा नहीं थी। इसलिए यह विवाद शुरू हुआ कि क्या शैलीविज्ञान सांख्यिकी की शाखा है? क्या इसे साहित्य-विश्लेषण की पद्धति माना जाय या भाषाविज्ञान की एक शाखा? क्योंकि उसका तरीका तो भाषाशास्त्र का था, लेकिन विषय साहित्य था। इसलिए इस विवाद को समाप्त करने हेतु ऐसा कहा गया कि ‘जहाँ शैलीविज्ञान शुरू होता है, भाषाविज्ञान वहीं समाप्त हो जाता है।’ शैलीविज्ञान एवं भाषाविज्ञान को अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि मानवीय चिन्त में भाषा का जो व्यवहार होता है, उसी को देखने एवं मापने के ये सब साधन हैं।

अरिमर्दन : एक अनुशासन के रूप में अँग्रेजी में निहित ज्ञान का जो स्तर है , उसे भारतीय भाषाओं की तुलना में कैसे देखते हैं ?

गणेश देवी : अँग्रेजी एक ‘अनुशासन’ के रूप में 11वीं सदी के दौरान इटली में विद्यालयी व्यवस्था के माध्यम से शुरू हुई थी, तब इसका नाम लिसियम था। लिसियम में तब लैटिन या इटालियन की शुरुआत नहीं हुई थी। तब भाषा से जुड़े विषय इसके अंतर्गत सिखाए जाते थे, सीखने या पढ़ने की इस पद्धति में बच्चों की प्रतिभा को एक नियत परिधि में सीमांकित करते हुए व्यवस्थित रूप दिया जाता था और अँग्रेजी में इसी को ‘डिसिप्लिन’ अर्थात् अनुशासन कहा गया। भारतीय चिन्तन-परंपरा में इसे विद्या-शाखा कहा जाता था। ‘शाखा’ कहने का तात्पर्य यह था कि विद्या को मूल में रखकर इसके विषय के विस्तार को पेड़ के विस्तार के रूप में देखा जाता था। एक तरफ जहाँ ‘अनुशासन’ में एक ढांचा बनता है, तो ‘शाखा’ में यह भाव टूटता और विस्तृत होता है। एक विषय से दूसरे विषय तक जाने को विद्या शाखा का अभ्यास कहते थे। अनुशासन में एक सामान्य अध्ययन से विशेष अध्ययन की तरफ जाने का भाव था। इस प्रकार अनुशासन में किसी विषय के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था का बोध होता है। जिस भी अनुशासन का विकास होता है, उसमें समय के साथ बदलाव होता रहता है और 100 या 50 साल में एक नए रूप में वह सामने आता है। एक समय हमारे यहाँ ज्योतिष एक बहुत बड़ा अनुशासन हुआ करता था, लेकिन आज विश्वविद्यालयों में यह ‘खगोल भौतिकविज्ञान’ या ‘खगोलविज्ञान’ के नाम से पढ़ाया जा रहा है। एक समय

पर्यावरणविज्ञान को एक बहुत बड़े ज्ञान का विषय माना जाता था, लेकिन वही आज धीरे-धीरे भाषा-पारिस्थितिकी से अर्थशास्त्र तक आ गया। इसमें भाषा-पारिस्थितिकी का मतलब पर्यावरण का ज्ञान था और अर्थशास्त्र के मायनों का विस्तार पर्यावरण से संसाधन का सेवन के अध्ययन तथा संसाधनों से संपत्ति का सेवन के अध्ययन तक आया है। इस प्रकार यह समय के साथ बदलता रहता है। आज का समय अनुशासनों की परिधि के टूटने का है। फ्रेंच चिंतक ल्योतार्द ने अपनी पुस्तक 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन' में लिखा है कि 'आज हम एक ज्ञान नहीं, बल्कि अनेक ज्ञानों तथा एक अनुशासन नहीं, बल्कि अनेक अनुशासनों के साथ रहते हैं।'

अरिमर्दन : भाषा एवं सामाजिक स्तर-भेद के आंतरिक संबंध पर कुछ प्रकाश डालिए।

गणेश देवी : टीना मुनीम ने जार्ज बर्नाड शा के एक नाटक पिगमेलियन पर आधारित बनीं फिल्म 'मन पसंद' में काम किया था, उसमें वे एक फूल बेचने वाली लड़की के रूप में भाषा का व्यवहार करती हैं और भाषाविज्ञान के एक प्रोफेसर उनको भाषा पढ़ाने की कोशिश करते हैं। इसमें फूल बेचने वालों की भाषा को निम्न श्रेणी की भाषा माना गया है और उसी के अनुसार फूल बेचने वाले व्यक्ति को मंद बुद्धि का भी स्वीकार किया जाता है। इसी तरह एजुकेटिंग रीटा नामक एक अँग्रेजी फिल्म है, जो एक नाटक पर आधारित है। इसमें रीटा एक विद्यार्थी है, उसके अध्यापक यह मानते हैं कि उसको सभ्य बनाने का एक ही तरीका है कि सिर्फ शुद्ध भाषा सिखाया जाय। हमारे यहाँ अँग्रेजों ने भारतीयों को अँग्रेजी पढ़ाना और उसके माध्यम से उनको सभ्य बनाने के उद्देश्य से ही अँग्रेजी-शिक्षा को मिशन बनाया था। इसी क्रम में अँग्रेजों का यह भी मानना था कि चूँकि भारतीयों को सभ्य बनाना है, इसलिए अँग्रेजी पढ़ाना होगा और इसलिए भारत में रहना अर्थात् देश पर शासन करना मजबूरी है। भाषा की अधिक्रमिकता को परिलक्षित करने वाली जो भाषिक संरचना होती है, वह सत्ता के सानिध्य से ही विकसित होती है। हालाँकि हमारे देश में इसका विरोधाभास दिखता है, जैसे महाराष्ट्र में जो सत्ताधीश वर्ग है, उनकी मराठी को मानक बननी चाहिए थी, लेकिन ऐसा न होकर पुणे की मराठी को मानक माना गया है। इसी प्रकार हमारे संसद में जो हिंदी बोली जाती है, वही देश की आम हिंदी बननी चाहिए थी, लेकिन ऐसा नहीं है, बल्कि हमारे देश की हिंदी शायद मुंबई के फिल्मों से निकलती है या मजदूरों और किसानों से। तमिलनाडु में मणिप्रभा, जो एक बहुत ही शास्त्रीय तमिल मानी गई थी, उसके स्थान पर जो आम जनता की भाषा थी, उसे मानक माना गया। इस प्रकार हमारे यहाँ जमीन से जुड़ी भाषा के शिष्ट भाषा बनने का प्रचलन था, जबकि इंग्लैंड में उच्च-वर्ग की भाषा आदर्श होती है और यहीं से वह आम जनता के मध्य जाती है। इन सबके बावजूद भाषा की शुद्धता का निर्धारण हमेशा उस वर्ग ने ही किया है, जिनके पास ज्ञान और नियंत्रण था। हमारे यहाँ ब्राह्मणवाद और भाषाओं की विकास-प्रक्रिया का आपस में घनिष्ठ संबंध

था। पाणिनी के अष्टाध्यायी में वर्णन है कि किस तरह से अष्टाध्यायी पढ़ाई जाए। सूत्र-पाठ में शिष्य गुरु से पूछता है कि 'उपदिष्ट' यानी 'बहुत अच्छी भाषा' क्या है? तो गुरु जवाब देते हैं कि जो शिष्ट लोग बोलते हैं, वही उपदिष्ट हैं। फिर शिष्य पूछता है कि शिष्ट लोग कौन होते हैं? तो गुरु जवाब देते हैं कि जो उपदिष्ट बोलते हैं वे लोग ही शिष्ट होते हैं। यही वह जाल है, जिसमें आम जनता फँस जाती है। शिष्ट और उपदिष्ट का निर्धारण हमेशा सत्ताधारी लोग तय करते हैं। यह कई बार बहुत सुनियोजित न होकर भी किसी अनकही शर्त पर आधारित रहता है। हालाँकि इस प्रारूप में कभी-कभी परिवर्तन भी हुआ है।

अरिमर्दन : भारत के लोक-साहित्य और जनजातीय जीवन में जो ज्ञान संचित है , उसको कैसे संरक्षित किया जा सकता है?

गणेश देवी : अगर आदिवासी जिंदा रहेंगे, तो ही उनका ज्ञान बचेगा, लेकिन वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में उनके लिए कोई स्थान नहीं है, उनकी जमीन हम लगातार छीन रहे हैं, उनको पलायन करने के लिए विवश कर रहे हैं। जिस प्रकार अदरक के अर्क को निकालकर हम दवा के रूप में प्रयोग कर लेते हैं और बाकी सब कूड़ेदान में फेंक देते हैं। ऐसा आदिवासियों के साथ संभव नहीं है। यदि कहीं भी हमारी इच्छा आदिवासियों के ज्ञान से लाभ पाने की है, तो उनके समाज को बचाना होगा, क्योंकि आदिवासीय संस्कृति का ज्ञान कोई भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान और गणित की तरह कोई तटस्थ ज्ञान नहीं है, बल्कि उनका ज्ञान उनकी जीवन-प्रक्रिया का ही एक हिस्सा होता है। यह ज्ञान तभी तक सुरक्षित है, जब तक वे अपना स्वाभाविक जीवन जीते रहें और पर्यावरण से उनका सीधा जुड़ाव बना रहे। जैसे दो व्यक्ति के मध्य के प्यार को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि वे दोनों व्यक्ति जीवित रहें, ऐसा नहीं संभव है कि सिर्फ प्यार को संरक्षित कर दिया जाय और व्यक्तियों को अलग-अलग कर दिया जाय। आदिवासियों का ज्ञान उनके जीवन जीने की कला है। इसलिए ऐसी अर्थ-व्यवस्था को प्रश्रय दिया जाना चाहिए, जिसमें उनके ज्ञान और उस पर आधारित व्यवसाय के विकास की संभावना हो और आज की इस अर्थव्यवस्था और विकास के स्वरूप पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

अरिमर्दन : आज जिस तरह बाजार ने भाषाओं को प्रभावित किया है , उसमें शिक्षण के माध्यम के रूप में मातृभाषा के अपनाए जाने का विरोध आदिवासी इलाकों से ही हो रहा है, क्योंकि उनका मानना कि देश में अँग्रेजी और हिंदी में पढ़कर मुख्य धारा के लोग विकास कर रहे हैं, जबकि आदिवासी जनजातीय या छोटी भाषाओं के माध्यम से शिक्षण के बाद उनके बच्चे विकास की इस दौड़ से वंचित रह जाएँगे, इस पर आप क्या कहेंगे?

गणेश देवी : सभी के लिए उचित विकल्प होना चाहिए। आज गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है कि भाषा पर किसी का स्थायी स्वामित्व नहीं होता है, जैसे पर्वत और नदी हैं, लोग उस पर आते-जाते रहते हैं, उसी प्रकार भाषाएँ ज़िंदा रहती हैं और उसके बोलने वाले उससे जुड़ते और अलग होते हैं। इस प्रकार यदि किसी की इच्छा हो कि उनका एक भाषा से दूसरी भाषा की ओर स्थानांतरण होना चाहिए, तो उनको इसका अवसर मिलना चाहिए। आज हमारे पास दो जिम्मेदारियाँ हैं, पहली व्यक्ति को उनकी मातृभाषा में शिक्षा की व्यवस्था करना और दूसरी जो इससे बचना चाहते हैं उन पर सख्ती न करके, उनके लिए इच्छित विकल्प उपलब्ध कराना। अभी कर्नाटक के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय का एक निर्णय आया है। दरअसल कर्नाटक सरकार की इच्छा थी कि सभी लोग कन्नड़ के माध्यम से ही पढ़ें, इसी पर न्यायालय का कहना था कि “जिनको कन्नड़ में पढ़ना है, उनके लिए अपनाई गई व्यवस्था को आप बनाए रखें, लेकिन जो ऐसा नहीं चाहते हैं, उनको इसके लिए बाध्य न करके अलग विकल्प की भी व्यवस्था कीजिए।” अगर आज आदिवासी चाहते हैं कि वे स्पेनिश, फ्रेंच या अँग्रेजी सीखें, तो उनको सीखने का मौका होना चाहिए। यहाँ मूल चिंता यह है कि किसी आदिवासी को क्यों आवश्यकता महसूस हो रही है कि वह अपनी भाषा छोड़कर दूसरों की भाषा सीखे? यदि उनको अपनी भाषा के माध्यम से ही उनके क्षेत्र में बहुत अच्छा व्यवसाय मिलने की संभावना हो, तो वे क्यों भला अँग्रेजी पढ़ने के पीछे भागेंगे।

अरिमर्दन : एक अँग्रेजी के प्रतिष्ठित एवं साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त साहित्यकार को भाषाई सर्वेक्षण के लिए जगह-जगह भटकने की आवश्यकता कैसे महसूस हुई ?

गणेश देवी : मैं एक अँग्रेजी का छात्र था और अरविंद घोष के ऊपर पी-एच०डी० का शोध पूरा किया था। अरविंद घोष इंग्लैंड में पढ़े थे। उम्र के लगभग 5 से 22वें साल तक उनके पिता की इच्छा थी कि वे कोई भी भारतीय भाषा न जानें, यहाँ तक कि उनके सपने भी अँग्रेजी में हों। बाद में जब अरविंद बड़ौदा आए, तो उन्होंने पहले छः महीने में बंगाली की पढ़ाई शुरू की। एक साल के बाद संस्कृत और मराठी सीख गए। इसके बाद जब वे पांडिचेरी गए, तो तमिल बोलने लगे। इससे पहले जब वे इंग्लैंड में थे, तो फ्रेंच, स्पेनिश और इतालवी अच्छी तरह से बोल लेते थे। इनसे मैं कहीं-न-कहीं प्रभावित था। मैं जब अँग्रेजी पढ़कर बड़ौदा पढ़ाने गया, तो आदिवासियों के गाँव में आना-जाना शुरू किया और मुझे अच्छा लगा कि वे जो बोलते थे, उसे मैं समझ सकता था, क्योंकि मैं महाराष्ट्र का होने के कारण मराठी जानता था और इसके साथ गुजराती भी जानता था। इन दो भाषाओं में लिखता भी था। जिस तरह साहित्य अकादमी ने अँग्रेजी-लेखन के लिए मुझे पुरस्कार दिया था, उसी तरह मराठी में मेरी किताब को 7-8 पुरस्कार मिले, गुजराती में भी मिले। इसलिए भाषाओं के प्रति मुझे लगाव था। इसी बीच आदिवासियों की भाषा

सुनने-समझने लगा। इसी बीच 1971 की जनगणना की रिपोर्ट से बहुत सारी मातृभाषाओं के नाम निकाले गए, तो मैं उनकी खोज में निकल पड़ा कि ये भाषाएँ कहाँ थीं और क्यों इनके नाम निकाले गए? तब समझ में आया कि यह बहुत सवेदनशील मुद्दा है, इसके लिए संबंधित भाषा-भाषी की ध्वनियों को रिकार्ड करके विश्लेषण से आगे भी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है, क्योंकि वे कर्ज में डूबे हुए थे, पलायन के लिए विवश थे। इसलिए उनको कर्ज से निकालने के लिए मैंने छोटे-छोटे निवेश की एक व्यवस्था की शुरुआत की, जो आज लगभग 400 करोड़ रूपए का समूह हो गया है। आगे उनके स्वास्थ्य के प्रश्न थे, तो मैंने उन्हीं की सहायता से एक स्वास्थ्य सेवा शुरू की, जिसमें आज तक 2 लाख 30 हजार लोगों का इलाज हुआ है। फिर वहाँ शिक्षा की समस्या थी, तो उनकी भाषाओं के माध्यम से विद्यालय खोले गए, जिसमें लगभग 20 हजार बच्चों को निरक्षरता से लेकर कॉलेज के स्तर की शिक्षा की व्यवस्था की गई। इस तरह धीरे-धीरे आदिवासी समाजों के साथ मित्रता हो गई। इसी बीच पर्याप्त धन एवं योजना होने के बावजूद जब भारत सरकार ने भाषाओं का सर्वेक्षण के प्रस्ताव से किनारा कर लिया, तो मुझे कष्ट हुआ और फिर मैंने तय किया कि अगर सरकार नहीं कर सकती, तो कम से कम आदिवासी खुद अपनी भाषाओं के बारे में लिख सकते हैं। इसी आधार पर भारत की भाषाओं का जनभागीदारी द्वारा सर्वेक्षण की योजना बनी।

अरिमर्दन : अभी भारतीय भाषाओं का लोक सर्वेक्षण (पीएलएसआई) के वर्तमान स्थिति के बारे में कुछ संक्षेप में बताइए ?

गणेश देवी : ‘भारतीय भाषाओं का लोक सर्वेक्षण’ लोगों द्वारा किया जाने वाला कार्य है। यह ग्रियर्सन के भाषाई सर्वेक्षण की न तो पुनरावृत्ति है, न ही विकल्प। यह उसको कहीं से चुनौती भी नहीं देता है, क्योंकि ग्रियर्सन का काम अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण काम था। लेकिन यह सर्वेक्षण आज से 100 साल पहले किया गया था, इसके बाद इस दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ। इसलिए आज देश भर में लगभग 3 हजार लोगों का एक स्वैच्छिक समूह बनाकर यह काम शुरू किया गया। इसमें कुल मिलाकर 50 पुस्तकें सर्वेक्षण की रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित होने की प्रक्रिया में हैं। जिसमें हर राज्य पर केन्द्रित एक पुस्तक है। हर राज्य की स्थानीय भाषा के साथ उसका अंग्रेजी प्रतिरूप भी प्रकाशित हो रहा है। जैसे अभी हाल ही मेघालय की रिपोर्ट अनावरित हुई है, जो अंग्रेजी के साथ खासी और गारो में भी है। इस प्रकार हर राज्य के लिए अंग्रेजी सहित दो भाषाओं में तैयार किया जा रहा है। इस तरह की 30 पुस्तकें हैं, जिनमें अंडमान से लेकर अरुणाचलप्रदेश तक को समाहित किया गया है। इसके बाद अनुसूचित भाषाओं, तटीय भाषाओं पर केन्द्रित, जनजातीय भाषाओं, सांकेतिक भाषा एवं भारत में विदेशी भाषाओं की स्थिति पर केन्द्रित विभिन्न अंक हैं। इसके साथ ही दो अंक भारत की संबंधसूचक शब्दावली एवं समय-काल पर आधारित है। इस

क्रम में अंतिम अंक भारत की भाषाओं के भविष्य पर केन्द्रित है। कुल मिलाकर यह 50 अंकों के माध्यम से 35 हजार पृष्ठ हैं। जिनमें से आज तक 12 अंक प्रकाशित हो चुके हैं और आगामी दिसंबर तक और 14 अंक प्रकाशित हो जाएंगे। 2015 के दिसंबर तक इन सभी 50 अंकों के प्रकाशित होने की योजना है। इस प्रकार इस सर्वेक्षण का पहला चरण समाप्त होगा। इसके अगले चरण में हर भाषा के क्षेत्र में भाषा से जुड़े आंदोलनों को चिह्नित करके उसको आगे बढ़ाने का काम करना है, जो इस योजना का अंतिम भाग होगा और इस चरण की शुरुआत हम 2016 से करेंगे। ये सब जनभागीदारी के काम हैं, अकेले मेरे बस की बात नहीं है मैं बहुत छोटा आदमी हूँ।

अरिमर्दन : अभी तक आपने जो काम किया है , उससे आप कितने संतुष्ट हैं और एक व्यक्ति के रूप में आपकी भविष्य की क्या योजनाएँ हैं?

गणेश देवी : 45 की उम्र में मैंने विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़ दी थी। 40 की उम्र से अपने लिए धन-संचय का काम नहीं किया है। जितने पैसे या उपहार मुझे मिलते हैं वह सब मेरी संस्था को चला जाता है। कुछ किताबें त्रिमूर्ति पुस्तकालय को दे दिया था। मेरे पास न मेरा कोई सर्टिफिकेट है और न ही कोई बायोडाटा। इसलिए अपने बारे में कुछ खास सोचा नहीं है। हजारों गाँवों का भ्रमण किया है और हर गाँव में मेरे दोस्त हैं और उनमें से किसी भी गाँव में जाता हूँ, तो रहने-खाने की समस्या नहीं होती। इसलिए मुझे किसी भी प्रकार की चिंता नहीं है कि मेरा क्या होगा। मेरी एक बेटी है जो पढ़ी-लिखी एवं जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में शिक्षिका है। मुझे जीवन में लोगों से बहुत प्यार मिला है, मेरे विद्यार्थी, सहकर्मी, आदिवासी दोस्तों ने बहुत साथ दिया है। कभी-कभी कोई गंभीर किश्म की पुस्तकें पढ़ता हूँ। अपनी समझ बढ़ाने के लिए लोगों से मिलता हूँ और भाषण भी देता हूँ और इस प्रकार मेरा जीवन कभी नीरस नहीं रहा और उम्मीद है कि आगे भी नहीं होगा।